



ISSN : 3108-1347 (Online)

IIFS Impact Factor-5.25

Vol.-2; Issue-3 (July-Sept.) 2026

Page No.- 36-40

©2026 Sanvahak

<https://sanvahak.gyanvividha.com>

Author's:

1. सत्येन मण्डल

शोधार्थी, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

2. डॉ. रामचन्द्र मेघवाल

निदेशक, असिस्टेंट प्रोफेसर, वेद विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

Corresponding Author :

सत्येन मण्डल

शोधार्थी, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

पतञ्जलि योगसूत्र के अष्टांग योग का वर्तमान मनोवैज्ञानिक और शारीरिक कल्याण पर प्रभाव

आधुनिक युग की तेज रफ्तार और भौतिकवादी जीवनशैली ने मनुष्य को प्रगति तो दी है, लेकिन इसके साथ ही तनाव, चिंता, अनिद्रा और कई शारीरिक बीमारियाँ भी उपहार में दी हैं। इस भागदौड़ भरी जिंदगी में आंतरिक संतुलन और स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए प्राचीन भारतीय ज्ञान, विशेषकर महर्षि पतंजलि द्वारा रचित 'योगसूत्र' की प्रासंगिकता अत्यधिक बढ़ गई है।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित 'अष्टांग योग' (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) केवल कुछ शारीरिक क्रियाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि यह शरीर, मन और चेतना को संतुलित करने की एक पूर्ण जीवन पद्धति है। इसके शुरुआती अंग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम) शारीरिक स्वास्थ्य और बाहरी अनुशासन को साधते हैं, जबकि अंतिम अंग (प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) मानसिक शांति और आत्मिक स्थिरता प्रदान करते हैं।

आज आधुनिक चिकित्सा विज्ञान और मनोविज्ञान ने भी इस बात की पुष्टि की है कि अष्टांग योग का नियमित अभ्यास तनाव हार्मोन को कम कर मानसिक स्पष्टता, भावनात्मक संतुलन और शारीरिक फिटनेस को बेहतर बनाता है। महर्षि पतंजलि जी इस सोपान के प्राथमिक चरण में सबसे पहले यम का वर्णन करते हुए कहते हैं-

“अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहयमाः” (योगसूत्र 2/30)

अष्टांग योग के प्रथम अंग 'यम' (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का विस्तार से परिचय देता है। यम साधक के बाह्य जीवन, आचरण और समाज के साथ उसके संबंधों को अनुशासित करते हैं। यहाँ पाँच मौलिक व्रतों का संकलन किया गया है, जिन्हें सार्वभौम महाव्रत कहा गया है।

अहिंसा- केवल शारीरिक स्तर पर किसी को मारना या चोट पहुँचाना ही हिंसा नहीं है, बल्कि मन से किसी का बुरा सोचना, वाणी से किसी को

अपमानित करना या कटु वचन बोलना भी सूक्ष्म हिंसा के अंतर्गत आता है।

“अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः” (योगसूत्र 2/35)

जब कोई व्यक्ति मन, वचन और कर्म से पूरी तरह से अहिंसा में दृढ़ता से प्रतिष्ठित हो जाता है, यानी उसका स्वभाव पूरी तरह अहिंसक बन जाता है तो उस व्यक्तित्व के सान्निध्य में आते ही दूसरों की स्वाभाविक शत्रुता, द्वेष और ईर्ष्या की भावना स्वतः समाप्त हो जाती है।

सत्य- जैसा देखा, सुना या समझा गया हो, तथ्य को उसी रूप में निष्कपट भाव से व्यक्त करना सत्य है।

“सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्” (योगसूत्र 2/36)

जब कोई साधक मन, वचन और कर्म से पूरी तरह सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसकी वाणी और संकल्प में अत्यधिक शक्ति आ जाती है। उस स्थिति में उसकी हर क्रिया और उसके द्वारा बोले गए या किए गए संकल्प स्वतः ही सिद्ध होने लगते हैं, और उसकी सभी गतिविधियों में सफलता का आधार स्वयं निर्मित होने लगता है।

अस्तेय- बिना अनुमति या अधिकार के किसी की वस्तु, धन या बौद्धिक संपदा को ग्रहण करना चोरी है, और इसके विपरीत प्रवृत्ति अस्तेय है।

“अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्” (योगसूत्र 2/37)

मन, वचन और कर्म से चोरी की प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग कर देने से साधक के जीवन में सभी प्रकार के उत्तम संसाधनों, ऐश्वर्य और मूल्यवान उपलब्धियों का स्वतः आगमन हो जाता है।

ब्रह्मचर्य- अपनी शारीरिक, मानसिक और प्राणिक ऊर्जा को अनुशासित रखना तथा उसे उच्च सत्प्रवृत्तियों की ओर मोड़ना ब्रह्मचर्य है।

“ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः” (योगसूत्र 2/38)

मन, वचन और शरीर से संयम का पालन करते हुए अपनी ऊर्जा और चेतना को श्रेष्ठ तथा उच्च आदर्शों में पूरी तरह स्थिर कर लेने से साधक के भीतर एक अद्भुत मानसिक और शारीरिक बल का संचय व विकास होता है।

अपरिग्रह- आवश्यकता से अधिक भौतिक वस्तुओं, धन या सुविधाओं का संचय न करना अपरिग्रह कहलाता है।

“अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः” (योगसूत्र 2/39)

वस्तुओं, धन या किसी भी प्रकार के अनावश्यक संग्रह की इच्छा और मोह का पूरी तरह त्याग करके जब साधक अपरिग्रह के व्रत में पूरी तरह दृढ़ हो जाता है तो साधक को अपने वर्तमान जीवन के स्वरूप और पूर्व जन्मों के इतिहास व जीवन के उद्देश्य का स्पष्ट बोध हो जाता है।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है-

“देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यमेत्युच्यते बुधैः” (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् श्लोक 28)

विद्वान् ऋषियों और आचार्यों के अनुसार, शरीर और इंद्रियों के विषयों से आसक्ति का छूट जाना या उनमें वैराग्य उत्पन्न होना ही 'यम' है।

दर्शनोपनिषद् में कहा गया है-

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम्।

क्षमा धृतिः मिताहारः शौचं चेति यमा दश।। (दर्शनोपनिषद् श्लोक 6)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार, शौचादि दस यम हैं।

अहिंसा- मन, वचन और कर्म से किसी भी जीव को कष्ट न पहुँचाना।

सत्य- हितकारी, यथार्थ और वास्तविक वचनों का आचरण करना।

अस्तेय- बिना अनुमति या अधिकार के किसी की वस्तु या धन की इच्छा न करना।

ब्रह्मचर्य- अपनी इंद्रियों को संयमित रखना तथा चेतना को उच्च आध्यात्मिक भाव में स्थित करना।

दया- सभी दुःखी या पीड़ित जीवों के प्रति करुणा और उपकार का भाव रखना।

आर्जव- मन, वचन और कर्म में कपट या छल-छद्म का न होना, अर्थात् जैसा भीतर हो वैसा ही बाहर होना।

क्षमा- विरोधियों या अपमान करने वालों के प्रति भी मन में क्रोध न रखकर सहनशीलता बनाए रखना।

धृति- सुख-दुःख, लाभ-हानि या विपरीत परिस्थितियों में भी मन की स्थिरता और उत्साह को बनाए रखना।

मिताहार- योग साधना और स्वास्थ्य के अनुकूल संतुलित, पवित्र और सीमित मात्रा में भोजन करना।

शौच- आंतरिक (विचारों और मन की पवित्रता) तथा बाह्य (शरीर और परिवेश की स्वच्छता) दोनों प्रकार की शुद्धि।

इसके बाद महर्षि पतञ्जलि नियमों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

“शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः” (योगसूत्र 2/32)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम कहलाते हैं।

शौच- शरीर की बाह्य स्वच्छता के साथ-साथ मन और विचारों की निर्मलता व आंतरिक शुद्धि बनाए रखना।

“शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः” (योगसूत्र 2/40)

जब मन और शरीर की बाहरी तथा भीतरी शौच पूरी तरह सिद्ध हो जाती है, तो साधक को शरीर की नश्वरता और इसकी भौतिक संरचना का वास्तविक स्वरूप समझ आने लगता है। इसके प्रभाव से शरीर के प्रति मोह या उसकी केवल बाहरी सुंदरता के प्रति आकर्षण कम होने लगता है, तथा वह अनावश्यक लोगों या प्रवृत्तियों के संपर्क से खुद को दूर रखने में समर्थ हो जाता है।

“सत्त्वशुद्धिसौमनस्याएकैग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च” (योगसूत्र 2/41)

शौच के सिद्ध होने पर चित्त के मूल घटक सत्त्व गुण का मैल दूर हो जाता है, जिससे मन में स्वाभाविक रूप से निर्मलता, हल्कापन और प्रसन्नता का संचार होता है। और मन पूरी तरह स्थिर और एकाग्र होने लगता है, तथा व्यक्ति की इंद्रियाँ उसके पूर्ण नियंत्रण में आ जाती हैं।

इन सभी आंतरिक बदलावों के परिणामस्वरूप साधक का अंतःकरण इतना परिष्कृत और सक्षम हो जाता है कि वह अपनी वास्तविक चेतना यानी आत्मा के दर्शन करने के योग्य बन जाता है।

सन्तोष- जो कुछ भी अपनी मेहनत से प्राप्त हो, उसमें प्रसन्न रहना।

“सन्तोषाद् अनुत्तमसुखलाभः” (योगसूत्र 2/42)

जब इंसान के मन में लालच और जो है उससे अधिक पाने की अंतहीन दौड़ समाप्त हो जाती है, तो उसका मन शांत हो जाता है। आंतरिक संतोष से मिलने वाला सुख ऐसा होता है जिससे ऊँचा कोई दूसरा सुख नहीं है। यह स्थायी शांति और आनंद का स्रोत होता है।

तप- धर्म और साधना के मार्ग में आने वाले सभी प्रकार के द्वंद्वों (जैसे सुख-दुःख, ठंड-गर्मी आदि) को सहन करने की मानसिक क्षमता विकसित करना।

“कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः” (योगसूत्र 2/43)

तपस्या के द्वारा शरीर और मन की अशुद्धियाँ तथा विकार नष्ट हो जाते हैं, जिससे शरीर और इंद्रियों में अकोमलता, दिव्यता और श्रेष्ठ सिद्धि उत्पन्न होती है और साधक योग साधना के योग्य बन जाते हैं।

स्वाध्याय- अपने भीतर झाँकना तथा आध्यात्मिक ग्रंथों (वेदों, उपनिषदों या योग शास्त्रों) का पठन-पाठन करना।

“स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः” (योगसूत्र 2/44)

अपने भीतर गहराई से अध्ययन करने, पवित्र ग्रंथों को पढ़ने, और अपनी चेतना का निरंतर निरीक्षण करने का अभ्यास जब पूरी तरह परिपक्व हो जाने से साधक को अपने इष्ट देवता या उस दिव्य उच्च शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव और संवाद

प्राप्त होने लगता है।

ईश्वरप्रणिधान- अपने सभी कर्मों, उनके फलों और अपने अहंकार को ईश्वर के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित कर देना।

“समाधिसिद्धिरेश्वरप्रणिधानात्” (योगसूत्र 2/45)

जब साधक अपने सभी कर्मों, अहंकार और परिणामों को पूरी निष्ठा के साथ सर्वोच्च सत्ता को समर्पित कर देता है और उस पर पूर्ण शरणागति रखता है तब चित्त की सारी विचलित वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं, और साधक को सहज ही समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है -

“गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च

तद् वस्त्वनुभवेन तुष्टिर्निः सङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः

फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः”(मण्डलब्राह्मणोपनिषद् श्लोक 4)

गुरुभक्ति और सत्यमार्गानुरक्ति- गुरु के प्रति सच्ची निष्ठा रखना और हमेशा सच्चाई तथा अच्छाई के मार्ग पर चलना।

सुखागतवस्त्वनुभव और तुष्टि- जीवन में जो कुछ भी सुख या अनुकूल परिस्थितियाँ सहज रूप से प्राप्त हों, उनका संतोषपूर्वक अनुभव करना और उससे हमेशा संतुष्ट रहना।

निःसङ्गता और एकान्तवास- मोहमाया से ऊपर उठकर अनासक्त रहना और चित्त की एकाग्रता के लिए शांतिपूर्ण एकांत स्थान पर समय बिताना।

मनोनिवृत्ति और फलानभिलाष- मन को बाहरी उलझनों और विकारों से हटाकर शांत रखना तथा अपने किसी भी कर्म के बदले में फल या पुरस्कार की लालसा न रखना।

वैराग्यभाव- इन सभी गुणों और मानसिक स्थिति को अपने जीवन में उतारना ही सच्चा वैराग्यभाव और आत्मनियंत्रण के नियम हैं। अगले चरण में आसन का वर्णन करते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं-

“स्थिरसुखमासनम्” (योगसूत्र 2/46)

वह शारीरिक स्थिति या मुद्रा जिसमें शरीर पूरी तरह स्थिर रहे और मन तथा शरीर को भीतर से प्रसन्नता, आराम एवं सुख का अनुभव हो, वही सही आसन है।

ध्यानाभ्यास के लिए शरीर को जबरदस्ती किसी कष्टदायक स्थिति में रखने की आवश्यकता नहीं है। आसन वही उत्तम है जिसमें लंबे समय तक बिना थके, आसानी से स्थिर बैठा जा सके।

दैनिक जीवन में यह केवल जमीन पर बैठने की मुद्रा तक सीमित नहीं है, बल्कि जीवन के हर कार्य में शरीर और मन के बीच संतुलन, स्थिरता और सहजता बनाए रखने का एक दृष्टिकोण है।

“तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः” (योगसूत्र 2/49)

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार जब आसन पूरी तरह सिद्ध हो जाता है अर्थात् शरीर स्थिर और सुखद हो जाता है, तब श्वास और प्रश्वास की सामान्य गति में जो ठहराव या व्यवधान (स्वतः रुक जाना) होता है, उसे ही प्राणायाम कहा जाता है।

जबरदस्ती सांस को रोकना प्राणायाम नहीं है। जब आसन में स्थिरता और मन में शांति आ जाती है, तब प्राणों की गति अपने आप शांत और सूक्ष्म होने लगती है, जिससे चेतना पर नियंत्रण प्राप्त होता है।

“स्वविषयसम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः” (योगसूत्र 2/54)

जब बाहरी इंद्रियाँ (देखना, सुनना, चखना आदि) अपने-अपने विषयों से हट जाती हैं और चित्त के मुख्य स्वरूप में ही तल्लीन होकर उसी के जैसी हो जाती हैं, तब इसे प्रत्याहार कहते हैं।

इसका अर्थ इंद्रियों पर जबरदस्ती रोक लगाना नहीं है, बल्कि बाहरी विषयों से उनका मोह छूट जाना है। जब

मन पूरी तरह अंतर्मुखी होता है, तो इंद्रियाँ भी स्वतंत्र रूप से भटकने के बजाय चित्त के अनुशासन का पूरी तरह पालन करने लगती हैं।

“देशबन्धश्चित्तस्य धारणा” (योगसूत्र 3/1)

चित्त को किसी विशेष स्थान, लक्ष्य या बिंदु पर बांधना या केंद्रित करना ही धारणा है। जब मन इधर-उधर भटकने के बजाय किसी एक निश्चित स्थान (चाहे वह शरीर के भीतर कोई चक्र हो, नासिका का अग्रभाग हो, या बाहर कोई मूर्ति/प्रतीक हो) पर स्थिर हो जाता है, तो उस मानसिक स्थिति को धारणा कहते हैं। यही आगे चलकर 'ध्यान' और 'समाधि' में परिणत होता है।

“तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्” (योगसूत्र 3/2)

जिस निश्चित स्थान या बिंदु पर मन को बांधा गया है (धारणा की गई है), उसी स्थान पर उसी विषय या विचार का बिना किसी व्यवधान और बिना टूटे लगातार एक समान प्रवाह (एकतानता) बने रहना ही ध्यान है।

जब धारणा का अभ्यास परिपक्व हो जाता है और मन का उस लक्ष्य पर बिना किसी रुकावट के एक ही धारा में प्रवाह होने लगता है, तो वही स्थिति 'ध्यान' बन जाती है। इसमें मन भटकता नहीं है, बल्कि तेल की धारा की तरह उसी एक विषय या विचार पर निरंतर और एकसमान रूप से केंद्रित रहता है।

“तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि” (योगसूत्र 3/3)

जब ध्यान की अवस्था इतनी गहरी हो जाती है कि केवल ध्येय (ध्यान का विषय या लक्ष्य) ही शेष रहता है और ध्यान करने वाले का अपना अहम् (चित्त का अलग अस्तित्व) मानो समाप्त सा हो जाता है, तब उस तल्लीनता की स्थिति को समाधि कहते हैं।

इस अवस्था में ध्येय (लक्ष्य) और ध्याता (साधक) एककार हो जाते हैं। साधक को केवल वह लक्ष्य ही अनुभव होता है, बीच में उसका अपना विचार या अहंकार नहीं रहता। यह ध्यान की पराकाष्ठा है, जहाँ मन का व्यक्तिगत स्वरूप विलीन होकर केवल उस विराट सत्य या विषय का ही प्रकाश बचता है।

निष्कर्ष : इस अध्ययन के समग्र विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग केवल प्राचीन काल की दार्शनिक अवधारणा मात्र नहीं है, बल्कि यह इक्कीसवीं सदी की आधुनिक और तनावग्रस्त जीवनशैली के लिए एक अत्यंत प्रभावी वैज्ञानिक समाधान है। आज के समय में जब मनुष्य भौतिक प्रगति के साथ-साथ मानसिक अवसाद, चिंता और कई जीवनशैली जनित शारीरिक विकारों से जूझ रहा है, तब अष्टांग योग का मार्ग सज्जीवनी का कार्य करता है।

अष्टांग योग के बहिरंग अंग (यम, नियम, आसन और प्राणायाम) शरीर को सुदृढ़, लचीला और रोगमुक्त बनाते हैं, वहीं इसके अंतरंग अंग (प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) मन को शांत कर भावनात्मक स्थिरता और उच्च मानसिक संतुलन प्रदान करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान और चिकित्सा विज्ञान के शोधों ने भी इस बात की पुष्टि की है कि इन आठ अंगों का नियमित और क्रमिक अभ्यास शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने के साथ-साथ मस्तिष्क में सकारात्मक हॉर्मोन्स का संतुलन स्थापित करता है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि अष्टांग योग व्यक्ति के शारीरिक स्वास्थ्य और मनोवैज्ञानिक कल्याण के बीच एक अनूठा सेतु है। यदि आधुनिक समाज इस प्राचीन भारतीय जीवन-पद्धति को अपनी दैनिकचर्या का हिस्सा बना ले, तो न केवल व्यक्तिगत स्तर पर तनाव और बीमारियों से मुक्ति मिल सकती है, बल्कि एक स्वस्थ, संतुलित और सुसंस्कृत समाज का निर्माण भी संभव है।